

समाजशास्त्र

स्नातक (प्रतिष्ठा) - प्रथम वर्ष

प्रथम - पत्र

(समाजशास्त्र के सिद्धांत)

SUBODH CHOUHARY

ASSISTANT PROFESSOR,

(SOCIOLOGY)

R. K. D. COLLEGE, PATNA-20

(PATLIPUTRA UNIVERSITY)

①

* सामाजिक परिवर्तन का चक्रीय सिद्धांत-1 *

सामाजिक परिवर्तन का चक्रीय

①

* सामाजिक परिवर्तन का चक्रिय सिद्धांत-1 *

सामाजिक परिवर्तन का चक्रिय सिद्धांत कुछ मान्यताओं पर आधारित है, जिसमें अधिकांश तौर पर इतिहास और ऐतिहासिक अज्ञानता से सशयता ली गई है। इस सिद्धांत की एक प्रमुख मान्यता है - इतिहास अपने-आपको दुहराना है। अर्थात् हम समाज में जो कुछ भी आज देख रहे हैं, वह नया नहीं है। पहले भी इस स्तर से होकर समाज गुजर चुका है। इसके संकट दूसरी मान्यता यह है कि जिस प्रकार एक जीवित प्राणी जन्म और मृत्यु के चक्र से गुजरता है, उसी प्रकार समाज और संस्कृति एक निश्चित समय में जन्म लेते हैं, विकसित होकर युवा अवस्था में आते हैं और पुनः उनका श्रावण आत्म हो जाता है और इस तरह उनकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रक्रिया से समाज में परिवर्तन होता है। साइंस् के ढंग में हम यह कह सकते हैं कि परिवर्तनशीलता एक बिन्दु से आत्म होकर पुनः उसी बिन्दु पर वापस आ जाती है और इस दौरान वह एक चक्रणमा आकार बनाती है। इसी कारण इसे चक्रिय सिद्धांत कहते हैं।

इस सिद्धांत को मानने वालों में प्रमुख हैं स्पेंगल, चेपिन, सारोकिन, टॉपनकी आदि। स्पेंगल ने अपनी मसिह पुस्तक 'द डिकलाइन ऑफ़ द वेस्ट' में चक्रिय सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इस पुस्तक में स्पेंगल ने निहडर्व दिया कि प्रत्येक सभ्यता जन्म, युवावस्था और मृत्यु के चक्र से गुजरती है। उनके अनुसार, संस्कृति एक विशेष समय में जन्म लेती है, फिर वह उत्कर्ष तक पहुँचती है और अंत में उसका श्रावण होता है, जो अंततः उसकी समाप्ति तक ले जाता है। स्पेंगल ने आठ संस्कृतियों का अध्ययन किया, जिनमें जन्म, विकास और मृत्यु की व्याख्या है। समाज जिस अवधि में अपनी उन्नति के शिखर पर रहता है, उस अवधि को

स्पेंसला ने 'संस्कृति' क्या है और इसकी अवधि को उसने सम्यता कहा है। एड इस्त्रिकोपा से स्पेंसला का सिद्धांत निराशावादी है क्योंकि इसके अनुसार पश्चिमी समाज अपनी उन्नति के शिखर पर पहुंच चुका है और इसके बाद इस आगम आना है।

टाँथनबी ने अपनी पुस्तक - 'ए स्टडी ऑफ़ डिस्ट्री' में सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय स्वभाव की व्याख्या की है, जो लगभग 21 सम्यताओं के आच्छन्न पर आधारित है। उसने अपने सिद्धांत को 'युनोती एवं प्रत्युत्तर' की आपसी अंतःक्रियाओं पर वर्णन किया है। युनोती से यहाँ तात्पर्य मूलतः विभिन्न प्रकार की समस्याओं से है, जो एक समाज या संस्कृति अपने जीवनकाल में अलगती है। प्रत्युत्तर से तात्पर्य उन प्रयासों से है जो समाज अपनी ओर से समस्याओं से निवृत्ति के लिए करता है। इस संदर्भ में टाँथनबी का विचार था 'रचनात्मक अल्पसंख्यक' की अवधारणा ही महत्वपूर्ण हो जाती है। रचनात्मक अल्पसंख्यक समूह वे होते हैं, जिसके विद्वेष्य समस्याओं से निवृत्ति के लिए समाज को रचनात्मक उपाय बताते हैं। टाँथनबी ने यह भी कहा है कि रचनात्मक अल्पसंख्यक समूह और समूची जनता के बीच निकट का संबंध होता है। और जनता का समर्थन उसे मिलता रहता है। संस्कृति के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक भी है। रचनात्मक अल्पसंख्यक समूह द्वारा सुझाए उपायों को जनता यदि समर्थन नहीं देती है तो संस्कृति विनाश की ओर बढ़ने लगती है।

टाँथनबी ने प्रत्येक संस्कृति की तीन अवस्थाओं की व्याख्या की है, जो निम्न हैं -

(1) युनोती के प्रत्युत्तर का काल - किसी भी संस्कृति का यह युवाकाल होता है, जिसमें विभिन्न युनोतियों के समाधान रचनात्मक अल्पसंख्यक से समाज को मिलते रहते हैं और समाज युनोतियों के

केसों में संस्कृति का यह युवाकाल होता है, जिसे विभिन्न युनैतिकों के समाधान (पनाचक अल्पसंख्यक से समाज को मिलते रहते हैं और समाज युनैतिकों के

(3)

समाधान के संघर्ष में अपने आपको अभियोजित करता रहता है। अर्थात् यह वह काल होता है, जब सामाजिक संरचना में लान्च और अभियोजन की क्षमता होती है।

(2) संकट का काल - इस काल में समाज के समक्ष कुछ ऐसी युनैतिकी आती है, जो उसे संकट में डाल सकती है।

(3) अंतिम लय से पतन का काल - संकट काल की अवस्था में जिन युनैतिकों का समाज सामना नहीं कर पाता है वे गंभीरतम लय ले लेती हैं, जिन्हें समाज या पनाचक अल्पसंख्यक समूह धुलका नहीं पाता है। यहाँ पर संस्कृति का पतन होता है।

इस प्रकार, एक समाज (पनाचक अल्पसंख्यक समूह की ओर से प्रेरित पाता है और विभिन्न युनैतिकों का सामना करता है और इसी प्रक्रिया में एक संस्कृति जन्म से पतन तक के चक्र में घूमती रहती है।

SUBODH CHOUHARY
ASSISTANT PROFESSOR
(SOCIOLOGY)
R.K.R. COLLEGE, PATNA-20
(PATLIPUTRA UNIVERSITY)

संस्कार

B.A :- I (HONS.) Paper :- II

Asst. Prof. Triveni Sha
Rokod College, Palani-20
(P.P.U)

संस्कृत साहित्य में संस्कार शब्द का अर्थ विविध रूपों में मिलता है जैसे -

शिक्षा, प्रशिक्षण, सौजन्यता, पूर्णता परस्पर शुद्धिकरण, धार्मिक विधि-विधान धारणा कार्य का परिणाम तथा क्रिया की विशेषता आदि। यद्यपि साधारण रूप से यह विभिन्न अर्थ एक सम्पूर्ण स्थिति उत्पन्न कर देते हैं लेकिन यदि तनिक ध्यान से देखा जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी शब्द व्यक्ति के परिष्कार (refinement) शुद्धता तथा प्रशिक्षण का उपाय अर्थात् करते हैं। इसी आधार पर जैमिनी पूर्वमीमांसा सूत्र में कहा गया है कि "संस्कारा वह हैं जिनके कार्य से कौंस पदार्थ उपयोगी बन जाता है।"

संस्कार शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होने के कारण डॉ० राजवला पाण्डेय का कथन है कि "संस्कार शब्द के साथ विलक्षण अर्थों का योग हो गया है जो इसके हीन इतिहास-क्रम में इसके साथ मिल गये हैं। इसका अनिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रिया तथा व्यक्ति

B.A:-I (HONS.)

Paper:- 2 of 3 aditya Date 31.10.2020

Page (02)

के शारीरिक मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से है जिन्हें

B.A. - I (HONS.)

Paper: - II

aditya

Date 31/10/2020

Page (02)

के शाब्दिक, मानसिक तथा बौद्धिक परिवर्तन के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से है जिसे वह समाज का पूरा विकसित सदस्य हो सके। किन्तु हिन्दू संस्कारों में अनेक आध्यात्मिक विचार, धार्मिक विधि-विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठानों का समाविष्ट है जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक बौद्धिक संस्कार ही न होकर व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिवर्तन, शुद्धि और पूर्णता का है। साधारणतया यह समझा जाता था कि विधिपूर्वक संस्कारों के अनुष्ठान से व्यक्ति में विलक्षण तथा अविनाश योग्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। संस्कार शब्द का प्रयोग इस सामूहिक अर्थ में ही होता था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि संस्कार वह धार्मिक विधि-विधान है जो प्रतीकात्मक रूप में व्यक्ति के बौद्धिक, मानसिक और सांस्कृतिक जीवन का परिवर्तन करके उसे एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्राणी बनाने में सहायक होता है। यह व्यक्ति के क्रमिक विकास की प्रक्रिया से सम्बद्ध है तथा संस्कारों का कार्य व्यक्ति की आध्यात्मिक क्षमताओं का सही रूप में मार्ग निर्देशन करना है।

संस्कारों के उद्देश्य

(Objectives of Samskars.)

हिन्दू संस्कारों के पीछे वास्तविक उद्देश्य क्या है? यह एक विवादास्पद प्रश्न है।

B.A. - I (HONS.)

Paper: - II

aditya

Date 31/10/2020

Page (03)

एक ओर इन संस्कारों का प्रादुर्भाव इतने प्राचीन

(Objectives of Samskar.)

हिन्दू संस्कारों के पीछे वास्तविक उद्देश्य क्या है ? यह एक विवादास्पद प्रश्न है ।

B.A. :- 2 (HONS)

Paper :- II

edityva Date 31/10/2020
Page (03)

एक ओर इन संस्कारों का प्रादुर्भाव इतने प्राचीन समय में हुआ है कि अब से लेकर आज तक इनमें तरह-तरह के विश्वास जुड़ते चले आ रहे हैं और दूसरी ओर इन संस्कारों को कर्मकाण्ड मात्र मानकर इनसे सम्बद्ध अनुशासन की भावना को समझने का प्रयत्न भी बहुत कम ही किया जाता है। इसके उपरान्त भी संस्कारों के प्रमुख उद्देश्यों अथवा प्रयोजनों को संक्षेप में निम्न रूप से उल्लेख किया है-

(i) संस्कारों का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य मानव के सरल मन तथा उनकी सांस्कृतिक विशेषताओं को प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्त करना है। लोग का भी यही विचार है कि 'संस्कार प्रतीक-निर्माण की प्रवृत्ति के ही अंग है।'

(ii) संस्कारों का दूसरा उद्देश्य अशुभ शक्तियों से व्यक्ति की रक्षा करना है। हिन्दू जीवन में बूतों, पिशाचों तथा इसी प्रकार की अनेक अशुभ शक्तियों से व्यक्ति की रक्षा करने के लिए उन्हें भोजन देने तथा बलि की व्यवस्था करने की रीतिगत चाल आ रही है। एक लगभग सभी संस्कारों में इस प्रकार के क्रिया-कलाप किये जाते हैं जिससे यह अशुभ शक्तियाँ व्यक्ति पर अपने चमत्कारी प्रभाव का प्रयोग न कर सकें।

कर्म के सिद्धान्त का महत्व

(Significance of the Doctrine of Karma.)

B.A. :- I (HONS.)

Paper :- II

asst. Prof. Triveni Jha.

R.K.D college, Patna-20

(P.P.U)

भारतीय जीवन पद्धति में कर्म का सिद्धान्त प्रत्येक युग में प्रेरणा का प्रधान स्रोत रहा है। इस सिद्धान्त के महत्व की व्यापकता को इसी तथ्य से समझा जा सकता है कि बौद्ध और जैन धर्म हिन्दू धर्म के अनेक पक्षों के कटु आलोचक होते हुए भी कर्म के सिद्धान्त के समर्थक रहे हैं। यही कारण है कि कर्म का सिद्धान्त जैन और बौद्ध धर्मों में भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान लिए हुए है जितना कि हिन्दू धर्म में। इस सिद्धान्त की व्यवहारिकता से प्रेरित वेबल तो इतने अधिक प्रभावित थे कि इनके अनुसार "कर्म के सिद्धान्त ने सम्पूर्ण जगत को एक कृत्रिवादी तथा नैतिक व्यवस्था में परिणित कर दिया, इस प्रकार यह सिद्धान्त सम्पूर्ण इतिहास में सबसे अधिक सन्तुलित ईश्वरीय विष्वास का प्रतिनिधित्व करता है।"

"Karma doctrine transformed the world into a strictly rational, ethically determined cosmos, it represents the most consistent theodicy ever produced by history."

भारतीय जीवन-कर्म में कर्म के सिद्धान्त

B.A. :- I (HONS.)

Paper :- II

aditya 27.10.2020 (02)

के महत्व को निम्नलिखित क्षेत्रों में स्पष्ट रूप

~~प्रश्न~~
~~भारतीय जीवन-कर्म में कर्म के सिद्धांत~~

B.A. :- II (HONS.)

Paper :- II

aditya Date: 22.10.2020
 Page: (02)

के महत्व को निम्नलिखित क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है -

(i) मानसिक सन्तुष्टि के द्वारा व्यक्तित्व का विकास

इस सिद्धांत के कारण ही व्यक्ति सफल-सुख-सम्पन्न (सफलता) और असफलता, समृद्धता तथा निर्धनता जैसी सभी दशाओं में अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहकर सामाजिक व्यवस्था के प्रति निष्ठावान रहे हैं। डॉ. राधाकृष्णन का कथन है कि यह सिद्धांत अविवेक के प्रति आशा तथा अज्ञान के प्रति विश्वास का विनाश दिलाकर व्यक्तित्व को संगठित करता है।

(ii) सामाजिक संबंधों का समाधान :- कर्म की आवश्यकता ने समाज में संबंधों को कर्म से कर्म करने का सबसे अच्छा समाधान प्रस्तुत किया। सामाजिक संबंधों का सबसे प्रमुख कारण अपनी स्थिति के प्रति असन्तोष महसूस करना और परिव्राम के बाद भी जीवन में असफल रहना है। कर्म के सिद्धांत ने प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति ही आश्रित नहीं किया बल्कि यह विश्वास भी दिलाया कि समाज में दुर्जनों को मिलने वाला हित का कारण सामाजिक व्यवस्था का दोष नहीं बल्कि (क) उन व्यक्तियों के पाप का फल है।

(iii) नैतिक जीवन का विकास :- इस सिद्धांत ने सभी व्यक्तियों को विश्वास दिलाया कि नैतिक जीवन के द्वारा ही मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है। व्यक्ति को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, इसलिए यह आवश्यक

समाज कल्याण का पथपास प्रलाया क नालक
 जीवन के द्वारा ही मोक्ष को प्राप्त किया जा
 सकता है। व्यक्ति को अपने कर्मों का फल
 अवश्य भोगना पड़ता है, इसलिए यह आवश्यक

B.A. :- 2 (HONS.)

Paper :- II

editvala.com 22/10/2020
 Page (03)

- है कि व्यक्ति दूधकर्मों को छोड़कर पुण्य-कर्म
 करे। पुण्य-कर्मों में ही वह शक्ति है जो व्यक्ति
 के परबन्ध को बहल सकता है तथा आगामी
 जीवन में उसे समृद्धता प्रदान कर सकती है।
- (iv) समाज-कल्याण का उपाय :- कर्म का सिद्धान्त
 व्यक्तिवादी नहीं है वरन् समष्टिवादी है।
 इसका तात्पर्य यह है कि बाल कप से इसका
 सम्बन्ध व्यक्तिगत कर्तव्य-भावना से होते
 हुए भी यह आन्तरिक रूप से सम्पूर्ण समाज के
 कल्याण से सम्बन्धित है।
- (v) आशावादी विचारों का आधार :- कर्म के
 सिद्धान्त ने प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों में
 सुधार करके आशावादी जीवन की प्रेरणा
 दी है। कर्म का सिद्धान्त जीवन को आशावादी
 बनाता है और प्रत्येक व्यक्ति में प्रेरणा का
 संचार करके इसे समाज का एक उपयोगी
 अंग बनाने में सहायता करता है।
- (vi) समस्त सामाजिक व्यवस्थाओं का आधार :-
 सामाजिक रूप से कर्म का सिद्धान्त इतना अधिक
 महत्वपूर्ण है कि इसी की सहायता से भारतीय
 समाज को सभी सामाजिक व्यवस्थाओं को
 संगठित करवा जा सका है। कर्म से सम्बन्धित
 विद्वानों ने पारिवारिक ऋणियों की पूर्ति में
 योगदान दिया है।
- (vii) पुनर्जन्म के भय का समाधान :- प्रत्येक समाज
 में मृत्यु की कल्पना इतनी बयावह होती है कि
 इसके वास्तविक रूप को समझे बिना व्यक्ति जीवन
 को अन्त होने से पहले ही कर्म से सम्बन्धित
 अज्ञात चिन्ताओं से घिर जाता है।

समाजशास्त्र

स्नातक (प्रतिष्ठा) - प्रथम वर्ष

प्रथम - पत्र

(समाजशास्त्र के सिद्धांत)

SUBODH CHOUHARY

ASSISTANT PROFESSOR,

(SOCIOLOGY)

R. K. D. COLLEGE, PATNA-20

(PATLIPUTRA UNIVERSITY)

* सामाजिक परिवर्तन का चक्रीय सिद्धांत - 2

* ①

सोरोकिन मरीटन ने भी सामाजिक



* सामाजिक परिवर्तन का चक्रिय सिद्धांत - 2 *

①

सोरोकिन मरोव ने भी सामाजिक परिवर्तन के चक्रिय सिद्धांत का समर्थन किया है। सामाजिक परिवर्तन के संबंध में दिए गए उनका सिद्धांत उनकी पुस्तक "सोशल एण्ड कल्चरल डायनेमिक्स" में हमें देखने को मिलता है। जैसे तो सोरोकिन ने स्वयं इस बात से इनकार किया है कि उसके द्वारा दिया गया सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत चक्रिय है, लेकिन मार्टिनडेल ने सोरोकिन के सिद्धांत को चक्रिय माना है। सामाजिक परिवर्तन के प्रचलित सिद्धांतों की समीक्षा करने के उपरांत सोरोकिन ने यह विचार दिया कि सामाजिक परिवर्तन जन्म, विकास और विनाश के चक्र की भाँति नहीं होता है और न ही वह एक ही दिशा की ओर विकसित है। उनके अनुसार, मानव समाज और संस्कृति में हो रहे परिवर्तन बहुत-बहुत उतार-चढ़ाव की कसौटी हैं। अतः सामाजिक परिवर्तन किसी उपस्था का समाप्त होना नवीन उपस्था की ओर गतिशील होना या चक्र पूरा का फिा पुनः उपस्था पर आ जाना नहीं है। सामाजिक परिवर्तन तो कुछ निश्चित सामाजिक संबंध, प्रतिमानों आदि का उठना-गिरना है। संस्कृति के मूल स्वभावों, सामाजिक संबंधों, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं आदि का उतार-चढ़ाव ही सामाजिक परिवर्तन है।

सोरोकिन के सामाजिक परिवर्तन-संबंधी विचारों को बीपास्ट्रीड ने समझाते हुए कहा है कि इतिहास चक्रों को नहीं बल्कि उतार-चढ़ावों का प्रदर्शित करता है और यद्यपि संस्कृति विचारधारा या चेतनात्मक दिशा की ओर सहव धूमती रहती है, यह हमेशा इसके अंतिम हो तक नहीं पहुँचती है। कुछ सीमाएँ होती हैं, जहाँ ये इसे विपरीत दिशा की ओर मुड़ना ही पड़ता है।

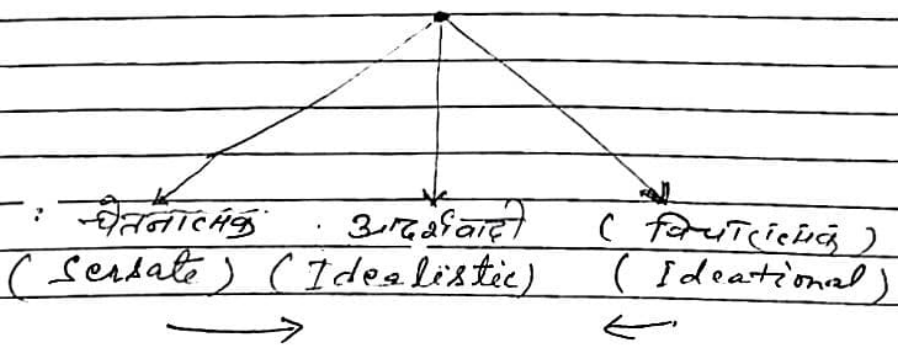
सोरोकिन ने अपने सिद्धांत की व्याख्या

2

कते हुए कहा है कि संस्कृति के तीन स्वरूप होते हैं -
 चैतनात्मक या इन्द्रियपक्ष (Sensate), विचारत्मक (Ideational)
 एवं आदर्शवादी (Idealistic)

इन्द्रियपक्ष संस्कृति के अन्तर्गत उन सभी भौतिक वस्तुओं को शामिल किया जा सकता है जिनसे हम अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। यह संस्कृति मूलतः भौतिकवादी मूल्यों पर आधारित है, जिसमें अलौकिकता और नैतिक मूल्यों का महत्त्व नहीं होता है। दूसरी ओर, विचारत्मक संस्कृति-स्वरूप इन्द्रियपक्ष संस्कृति के विलगुल विपरीत है। अर्थात् विचारत्मक में ईश्वर, धर्म या पालौकिकता-संबंधी मूल्यों का बोलबाला होता है। इसके अंतर्गत नैतिक मूल्यों, आत्मा-संबंधी बातों आदि पर अधिक जोर दिया जाता है। संस्कृति के चैतनात्मक और विचारत्मक स्वरूप एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं और ये दो छोर हैं, जिनके बीच परिवर्तनशीलता घुमती है।

चैतनात्मक और विचारत्मक संस्कृति-स्वरूप के बीच में आदर्शवादी स्वरूप होता है यह बीच की स्थिति है, जो व्यक्ति की भौतिक इच्छाओं को महत्त्व तो देती है, इसके साथ-साथ मानवीय मूल्यों पर भी बल देती है। अर्थात् आदर्शवादी चैतनात्मक और विचारत्मक सांस्कृतिक स्वरूपों के तत्वों का मिश्रण है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है।



: चैतनात्मक (Idealistic) (Idealistic) (Ideational)
(Sensate) (Idealistic) (Ideational)



सोरोकिन के अनुसार, सारे परिवर्तन आदर्शवादी स्वभाव में ही होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आदर्शवादी स्वभाव में कभी चैतनात्मक स्वभाव की विशेषताएँ बहने लगती हैं और कभी विद्यात्मक स्वभाव के तत्त्व बहने लगते हैं। यदि परिवर्तन चैतनात्मक की ओर होते हैं तो कुछ समय तक इस दिशा में बहने के बाद वे पुनः विद्यात्मक की ओर बहने लगते हैं। इसी प्रकार, परिवर्तन यदि विद्यात्मक की ओर होते हैं तो कुछ समय बाद चैतनात्मक की ओर बहने की प्रक्रिया दिखाई देने लगती है।

इस तरह, सोरोकिन के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन उता-पड़नाव के रूप में किसी के पैटर्न की भाँति चैतनात्मक और से विद्यात्मक और तक जाता है और पुनः विद्यात्मक और से चैतनात्मक और तक जाता है।

SUBODH CHOUHARY
ASSISTANT PROFESSOR
(SOCIOLOGY)

R.K.R. COLLEGE, PATNA-20
(PATLIPUTRA UNIVERSITY)